इकाई-I

मनुस्म ति

भारतीय वाङ्मय में मनुस्म ति सर्वाधिक चर्चित और महत्वपूर्ण धर्म—शास्त्र है। इसको मनुसंहिता मानव धर्मशास्त्र तथा मानवशास्त्र के नामों से भी जाना जाता है। इस स्म ति की इतनी अधिक लोकप्रियता है कि इसके पश्चात् अनेक स्म तियाँ और धर्मशास्त्र अस्तित्व में आये किन्तु इसकी उपादेयता और लोकप्रियता के सामने टिक नहीं सके।

मनुस्म ति के इतना अधिक महत्त्वपूर्ण तथा लोकप्रिय होने में जो कारण हैं उनमें इसके विधिविधानों की तत्कालीन समाज में युक्तियुक्तता तथा वेदमूलकता रही है। वर्तमान समय में मनुस्म ति को लेकर कुछ विद्वानों तथा समाजिकों में बहुत आक्रोश देखने को मिलता है। इस आक्रोश के पीछे मुख्यतः दो कारण प्रतीत होते हैं। पहला कारण तो यह है कि मनुस्म ति से रुष्ट होने वाले अधिकांश लोगों ने मनुस्म ति को पढ़ा ही नहीं है। दूसरे जिन्होने पढ़ा भी है तो वे अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं हो सके। अत एव उन्हें स्वार्थी लोगों द्वारा किये गये प्रक्षेप द ष्टिगोचर नहीं हुए और उन प्रक्षेपो में वर्णित अवैदिक और समाज के लिए अहितकारी तथ्यों का सारा दोष मनु के मत्थे मढ़ दिया गया।

अस्तु प्राचीन विधिविधानों, वर्णाश्रम धर्मो, समाज की मर्यादाओं और आचरणों का सर्वाङ्गीण बोध कराने वाला ग्रन्थ मनुस्म ति ही है।

मनुस्म ति का प्रभाव और महत्त्व केवल भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी रहा है। इस विषय में मनुस्म ति का पूनर्मूल्यांकन करने वाले डा॰ सुरेन्द्र कुमार ने ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है—

भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी मनुस्म ति का प्रभाव रहा है और इसे महत्त्व मिला है। चम्पा द्वीप के एक शिलालेख में मनु का निम्न श्लोक उद्ध त मिलता है—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति प चमी।

एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्।।

बालि, स्याम और जावा के विधान मनुस्म ति से साम्य रखते हैं। वर्मा का "धम्मथट्" मनुस्म ति से ही प्रेरित प्रतीत होता है। नेपाल का विधिविधान मनुस्म ति का ही अनुकरण करता है। फिलिपीन द्वीप के नये लोकसभा के सामने, वहाँ के संविधान निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान करने वाले चार व्यक्तियों की मूतियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं। उनमें एक महर्षि मनु की है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह सिद्ध होता है कि आज चाहे हम मानें या ना मानें। एक समय ऐसा था जब मनु प्रतिपादित विधिविधानों ने इस देश तथा पड़ौसी देशों को भी बहुत प्रभावित किया था।

विद्यार्थियों के लिए यह सुझाव है कि दोनों अतियों (घोर निन्दा या घोर प्रशंसा) से बचने के लिए अपने पाठ्यक्रम में निर्धारित मनुस्म ति के अंशों को पढ़ते हुए विवेक को जाग त रखें तथा मनुस्म ति से सम्बद्ध अन्य समालोचनापरक ग्रन्थों का अनुशीलन भी करते रहें।

मनुस्म ति के प्रवक्ता— मनुस्म ति के कर्ता अथवा प्रवक्ता के विषय में विद्वान् एक मत नही हैं। इस धर्मशास्त्र का प्रथम उपदेशक कौन है ? इस विषय में हमारे समक्ष प्रायः चार मुख्य विकल्प आते हैं।

ई॰ पू॰ में लिखा गया था उसमें दो श्लोक थोड़े से परिवर्तन के साथ मनुस्म ति के श्लोकों के अनुसार ही हैं।

वे लिखते हैं कि श्रीयुत डी॰ आर॰ भण्डारकर ने अपने व्याख्यान में कौटिल्य के दो श्लोकों को मनुस्म ति के दो श्लोकों से मिलान किया है। उनका कथन है कि प्रोफेसर भण्डारकर ने व्यूलर का अनुकरण करते हुए यह कहा है कि कौटिल्य के ये श्लोक उनकी रचना न थे। परन्तु उनसे पूर्व प्रचलित मनु के थे और वे वर्तमान मनु में भी बाद में जोड़ दिए गए हैं। श्री भगवद्दत जी कहते हैं कि मनुस्म ति को बाद की सिद्ध करने के लिए यह केवल अनुचित पक्षपात है। पहिले यह सिद्धान्त स्थिर कर लिया जाता है कि मनुस्म ति बहुत बाद में लिखी गई थी और जब उसके प्राचीन काल के होने का प्रमाण मिलता है तब यह कह दिया जाता है कि वह (प्राचीन प्रमाण) दोनों (मनु और कौटिल्य) का समान आधार था। परन्तु यह निर्णय ह्रदयंगम नहीं है।

श्रीयुत् भगवद्दत्त जी वाल्मीकि रामायण से उद्धरण देते हुए यह सिद्ध करते हैं कि मनु के दो श्लोक रामायण में ज्यों के त्यों पाए जाते हैं जिससे यह परिणाम निकलता है कि मनु का वर्तमान स्वरूप जो पद्यबद्ध है वही पहिले भी था।

इस सबसे यह निष्कर्ष निकलता है:-

(१) वर्तमान मनुस्म ति का स्वरूप ई॰ द्वितीय शताब्दी पूर्व तक का हो सकता है इसे अब प्रायः सभी विशिष्ट विद्वानों ने मान लिया है। व्यूलर तथा पी० वी० काणे भी इस सीमा को मानते हैं परन्तु वे यह भी उल्लेख करते हैं कि उसके बाद की सीमा ई॰ सन् के प्रारम्भ तक जा सकती है।

(२) श्रीयुत् जायसवाल ने यह सिद्ध कर दिया है कि उसकी सीमा ईसवी सन् से पूर्व ही है।

(३) श्रीयुत् जायसवाल जी ने पुष्यमित्र आदि सुंगवंशीय राजाओं के काल में सिद्ध किया है परन्तु इस मत का श्री डी० वरदाचार्य प्रभ ति विद्वानों द्वारा सप्रमाण खण्डन कर दिया गया है।

(४) श्रीयुत् आयंगर जी उसे कौटिल्य से पूर्व की सिद्ध करते हैं परन्तु यह लिखते हैं कि कम से कम द्वितीय ईसवी शताब्दी से पूर्व की होना निर्विवाद है।

(५) श्रीयुत् भगवद्दत्त जी ने निश्चित तिथि नहीं दी है परन्तु वे उसे कौटिल्य से तथा धम्मपद से पूर्व की मानते हैं। धम्मपद की रचना वे लगभग चौथी शताब्दी ई॰ पू॰ मानते हैं। अतः इनके मत से मनुस्म ति का समय उससे भी पूर्व का सिद्ध होता है।

(६) श्रीयुत् मेक्स डंकर ने प्रमाण सहित सिद्ध किया है कि वह ६०० ई॰ पू॰ के लगभग लिखी गई थी।

उपर्युक्त विचार विमर्श से मनुस्म ति की रचना काल के विषय में संदेह ही अधिक बढ़ता है उसका समाधान कम होता है। परन्तु ये तर्क अंतिम तर्क नहीं कहे जा सकते हैं; संभव है मनुस्म ति ६०० ई॰ के भी और बहुत पहले की हो। इस नवीन शंका के समाधान के लिए नवीन तर्कों की आवश्यकता है।

महाभारत और बाल्मीकि रामायण, इन दोनों में मनुस्म ति के उद्धरण मिलते हैं, इस कारण मनुस्म ति की रचना इन दोनों ग्रन्थों से पूर्व की है यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। महाभारत तथा रामायण के रचना काल पर भी विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है तथापि यहाँ पर श्री मैकडानल के मत का उल्लेख सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है। रामायण के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि रामायण में बुद्ध का उल्लेख केवल एक स्थल पर आया है; वह प्रत्यक्ष रूप से प्रक्षिप्त जान पड़ता है। अतः बौद्धमत के तारतम्य को देखते हुए रामायण के बौद्धकाल से पूर्व होने के अधिक प्रमाण मिलते हैं। इसी प्रकार महाभारत के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि हम प्रायः यह मान सकते हैं कि हमारे वीरकाव्य का मूलरूप लगभग पाँचवी सदी ई॰ पू॰ में आ चुका था। इस विषय में सबसे प्राचीन साक्ष्य आश्वलायन ग ह्यसूत्र में मिलता है जहाँ भारत तथा महाभारत का निर्देश है। इस साक्ष्य से भी महाभारत का काल पाँचवी शताब्दी ई॰ पू॰ ही ज्ञात होता है।

श्री जायसवाल जी ने भी महाभारत की रचना मनुस्म ति के बाद ही मानी है। इसी प्रकार श्री भगवद्दत्त जी ने मनुस्म ति की रचना रामायण से पूर्व मानी है। ऐसी स्थिति में अनायास ही मनुस्म ति का रचना काल ई॰ छठी या पाँचवी शताब्दी पूर्व हो जाता है। यही मत मैक्सडंकर महोदय का भी है।

मनुस्म ति की रचना का काल इससे भी पूर्व हो सकता है। मनुस्म ति ने यास्क का उल्लेख नहीं किया है परन्तु यास्क ने मनु का उल्लेख किया है। श्री पी०वी० काणे महोदय के अनुसार यास्क का काल लगभग ८०० ई॰पू॰ का है। भंडारकर महोदय के अनुसार ७५० ई॰ पू॰ तथा श्री आयंगर के अनुसार ६५० ई॰ पू॰ है। यास्क ने मनु का कई स्थानों पर उल्लेख किया है। यास्क ने पुत्र के दाय ग्रहण के संबंध में **''मनुः स्वायंभुवो ब्रवीत्''** कहकर मनु का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु के धर्मशास्त्र की स्थिति यास्क के पूर्व थी। इसके स्पष्टीकरण के लिए दोनों की विषय-प्रतिपादन शैली पर ध्यान देना आवश्यक है। यास्क ने वेदों के वैज्ञानिक विवेचन पर पर्याप्त प्रकाश डाला। बहुत से मंत्रों का वैज्ञानिक अर्थ भी उन्होंने दिया है यास्क लिखते हैं कि ऋषि लोग साक्षात्कृतधर्मा थे अर्थात् उन्होंने पदार्थ के धर्मों का साक्षात्कार किया था, योग द ष्टि से उनका प्रत्यक्ष किया था। उन्होंने अवर (निम्नश्रेणी) लोगों को, जिन्होंने धर्मों का स्वयं साक्षात्कार नहीं किया था, उपदेश के द्वारा मंत्रों का सम्प्रदान किया। और भी आगे उपदेश में भी ग्लानि का अनुभव करने वाले लोगों के लिए वेदांगों का संग्रह किया। यास्क के समय बहुत से वैदिक पारिभाषिक शब्द, प्रचार के ह्रास के कारण व्याख्यागम्य हो गए थे। अतः उन पर व्याख्या ग्रन्थों की आवश्यकता हुई। परन्तु यास्क की शैली भी संक्षिप्त रूप से, संकेत से ही व्याख्या करने की थी। यास्क ही एक प्रकार से अन्तिम वैज्ञानिक विवेचक थे। मनुस्म ति के समय में वैदिक विज्ञान की परिभाषाओं का प्रचार यास्क के समय की अपेक्षा अधिक था। अतः मनुस्म ति में बहुत अधिक स्थल ऐसे हैं जो सिद्ध रूप से वैज्ञानिक अर्थ को प्रधानतः लक्ष्य करते हैं। यहाँ मनुस्म ति में प्राप्त होने वाले वैदिक विज्ञान को सिद्धरूप में देने वाले कुछ उदाहरणों को देना अप्रसांगिक न होगा।

मनु १-८ में लिखते हैं कि स्वयंभू ने अपने शरीर से सबसे आदि में जल की स ष्टि की। मनु १-७५ से ७८ तक में जो महाभूतों का क्रम दिया गया है वहाँ आकाश उससे वायु, वायु से तेज और तेज से जल की स ष्टि की गई है। इन दो परस्पर विरोधी वाक्यों का समन्वय साधारण शब्दार्थ से नहीं होता। मनु॰ ३-२०१ में लिखते हैं कि ऋषियों से पितर उत्पन्न हुए, पितरों से देव और दानव हुए और फिर देवों से (देव और दानवों से) समस्त जगत् उत्पन्न हुआ।

मनु॰ १-२३ में लिखते हैं कि प्रजापति ने अग्नि, वायु और रवि से यज्ञ की सिद्धि के लिए ऋग्, यजुः और साम को दुहकर निकाला। यहाँ ये तीनों वेद किस प्रकार अग्नि आदि से निकाले गए यह जानने के लिए व्याख्या की अपेक्षा है। मनु १२-९८ में मिलता है— शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पंचम गंध, ये प्रसूतिगुण के धर्म से वेद से ही उत्पन्न होते हैं। शब्दात्मक ग्रन्थ रूप इन वेदों से रूप, रस, गंध कैसे उत्पन्न होते हैं यह साधारण व्याख्या से समझ में नहीं आता। मनु॰ ११-२६६ में लिखते हैं आद्य जो तीन अक्षर वाला ब्रह्म है, जिस पर वेदत्रयी प्रतिष्ठित है वह अन्य त्रिव त् गुह्यवेद है जो उसे जानता है वह वेदवित् है।

इस प्रकार के और अन्य उदाहरण मनु में भरे पड़े हैं जिससे पता चलता है कि एक सर्वसाधारण के लिए उपयोगी धार्मिक ग्रन्थ में पहेली रखने की आवश्यकता न थी। स्म ति की रचना काल में ये पारिभाषिक वैदिक शब्द समाज में प्रचलित थे अतः उनके समझाने के लिए प थक् व्याख्या अपेक्षित न थी। यह समय अवश्य ही यास्क से पूर्व का था। परन्तु कितने पूर्व था यह कहना कठिन है। यास्क के समय तक कम से कम दो सौ वर्ष तो लग ही गए होंगे। ऐसी स्थिति में मनुस्म ति की रचना का काल एक सहस्र ई॰ पू॰ अनायास सिद्ध होता है। उससे पूर्व भी संभव है परन्तु इसमें अभी यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि अनेक पाश्चात्त्य और प्रायः तदनुयायी भारतीय विद्वान् भी वेदों

की रचना को ही एक हजार और पन्द्रह सौ ई॰ पू॰ में मानने का आग्रह करते हैं। ब्राह्मण, उपनिषद् आदि की रचना अवश्य ही मंत्रों के बाद ही हुई है। मनुस्म ति भी निर्विवाद ही ब्राह्मणों के निर्माण के बाद ही लिखी गई है। परन्तु वेद मंत्रों का यह समय निर्धारण अभी तक निस्संदिग्ध रूप से सर्वमान्य नहीं हुआ है। यहाँ उसका विवेचन अप्रासंगिक होगा। कालान्तर में इस जटिल प्रश्न के समाधान होने पर उसका प्रभाव मनुस्म ति की रचना काल के निर्णय पर भी अवश्य पड़ेगा।

मनुस्म ति के प्रथम द्वितीय अध्याय में वर्णित कुछ प्रमुख विषय -

(१) स ष्टि प्रक्रिया, (२) काल परिमाण, (३) श्रुति प्रशंसा, (४) धर्म, (५) ब्रह्मावर्त/आर्यावर्त, (६) शिष्य/ ब्रह्मचारी के कर्तव्य, (७) संस्कार।

१. स ष्टि प्रक्रिया :-

मनुस्म तिकार ने मनुस्म ति के प्रथम अध्याय में इस जगत् की स ष्टि प्रक्रिया के विषय में विस्तार से लिखा है। वहाँ इस विषय का वर्णन करने वाले श्लोकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि स ष्टि प्रक्रिया का वर्णन करते हुए मनुस्म तिकार ने वेद, दर्शन और पुराणों में वर्णित स ष्टि प्रक्रियाओं के समन्वित रूप का उल्लेख अपने शास्त्र में किया है।

स ष्टि से पूर्व की अवस्था का वर्णन करते हुए मनु लिखते हैं कि - यह सब जगत् स ष्टि के पहले प्रलय में अन्धकार से आव त=आच्छादित था। ....उस समय न किसी के जानने न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य कुछ था। सब ओर सब कुछ सोया हुआ सा पड़ा था।

यह वर्णन ऋग्वेद के नासदीय सूक्त के "तमः आसीत्तमसा गूढमग्रे" इत्यादि मन्त्र के वर्णन से मेल खाता है।

उस अनिर्वचनीय प्रलयावस्था में जब सब कुछ अन्धकारमय था तब स्वयम्भू, अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के अगोचर, अपरिमित सामर्थ्य वाले और अन्धकार दूर करने वाले भगवान् आकाश आदि महाभूतों को व्यक्त करते हुए प्रकट हुए। अपने शरीर रूप प्रकृति से अनेक प्रकार की प्रजाओं स ष्टि करने की इच्छा वाले उस परमात्मा ने ध्यान करके पहले अप्-तत्व को ही रचा, और फिर उन अप्तत्त्वों में शक्तिरूपी बीज को छोड़ा। फिर वह बीज हजारों सूर्यों की ज्योति के समान सुनहरी अण्डे के रूप में परिणत हो गया फिर उसमें सब लोगों के पिमामह के समान ब्रह्मा अपने आप उत्पन्न हुए।

उस अण्डे में एक वर्ष तक (=ब्रह्मा के वर्षप्रमाण के अनुसार ३६० ब्राह्मदिन तक) निवास करके उस भगवान् ने स्वयं ही अपने ध्यान से उस अण्डे को दो टुकड़ों में कर दिया। उस ब्रह्मा ने उन दोनों टुकड़ों से द्युलोक और प थिवीलोक की और बीच में आकाश और आठों दिशाओं की तथा जलों के नित्य स्थान-समुद्रों की रचना की और फिर उस परमात्मा ने स्वाश्रयस्थित प्रकृति से 'महत्' नामक तत्त्व को और महत्तत्त्व से 'मैं हूँ' ऐसा अभिमान करने वाले सामर्थ्यशाली 'अहंकार' नामक तत्त्व को उत्पन्न कर प्रकट किया। पुनः उसने सब त्रिगुणात्मक पाँच - शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामक तन्मात्राओं को तथा आत्मोपकारक अथवा निरन्तर गमनशील 'मन' इन्द्रिय को और विषयों को ग्रहण करने वाली दोनों वर्गों की पांचों ज्ञानेन्द्रियों-आंख, नाक, कान, जिह्वा, त्वचा तथा पांच कर्मेन्द्रियों-हाथ, पैर, वाक्, उपस्थ, पायु, को यथाक्रम से उत्पन्न कर प्रकट किया।

ऊपर वर्णन किए गये उन तत्त्वों में से अत्यधिक शक्तिवाले छहों तत्त्वों के सूक्ष्म अवयवों=शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच तन्मात्राएं तथा छठे अहंकार के सूक्ष्म अवयवों को उनके आत्मभूत तत्त्वों के विकारी अंशों अर्थात् कारणों में मिलाकर पांचों स्थूल महाभूतों-आकाश, वायु, अग्नि, जल और प थिवी की स ष्टि की।

इस प्रकार विनाश रहित परमात्मा से और द्वितीयार्थ में स ष्टि के मूल कारण अविनाशिनी प्रकृति से उन्हीं महाशक्तिशाली सात तत्त्वों-महत्, अहंकार तथा पांच तन्मात्राओं के जगत् के पदार्थों का निर्माण करने वाले सूक्ष्म विकारी अंशों से यह द श्यमान विनाशील विकाररूप जगत् उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि "जब स ष्टि का समय आता है, तब परमात्मा उन परमसूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परमसूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से कुछ स्थूल होता है उसका नाम महत्तत्व, ओर जो उससे कुछ स्थूल होता है, उसका नाम अहंकार और अहंकार से भिन्न-भिन्न पांच-सूक्ष्मभूत, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण पांच ज्ञानेन्द्रियां, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, ये पांच कर्म इन्द्रियां और ग्यारहवां मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है। और उन पंचतन्मात्राओं से अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त करते हुए क्रम से पांच स्थूलभूत जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उत्पन्न होते हैं। उनसे नाना प्रकार की औषधियां, व क्ष आदि, उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है।

यहाँ तक हमें जो मनुस्म ति में स ष्टि प्रक्रिया का वर्णन उपलब्ध होता है उसमें से आरम्भिक वर्णन पुराणगत स ष्टि चिन्तन से मेल खाता है तथा बाद में वह सांख्य शास्त्र के स ष्टि चिन्तन में पर्यवसित हो जाता है। पुनः इस वर्णन पर पुरुष सूक्त का प्रभाव दिखने लगता है।

इस जगत् मं स ष्ट पदार्थों के नाम, कर्म तथा स्वभावादि की उत्पत्ति के विषय में मनु लिखते हैं कि-उस परमात्मा ने सब पदार्थों के नाम (यथा-गौ-जाति का 'गौ', अश्वजाति का 'अश्व' आदि) और भिन्न-भिन्न कर्म (यथा-ब्राह्मण के वेदाध्यापन, याजन, क्षत्रिय का रक्षा करना, वैश्य का कृषि, गोरक्षा, व्यापार आदि अथवा मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के हिंस्र-अहिंस्र आदि कर्म तथा प थक् प थक् विभाग जैसे प्राणियों में मनुष्य, पशु-पक्षी आदि या व्यवस्थाएं यथा-चार वर्णों की व्यवस्था स ष्टि के प्रारम्भ में वेदों के शब्द से ही बनायीं।

इस प्रकार उस परमात्मा ने कर्म ही स्वभाव है जिनका ऐसे सूर्य, अग्नि, वायु आदि देवों के मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सामान्य प्राणियों के और साधक कोटि के विशेष विद्वानों के समुदाय को तथा स ष्टि-उत्पत्ति काल से प्रलय काल तक निरन्तर प्रवहमान सूक्ष्म संसार अर्थात् महत् अहंकार प चतन्मात्रा आदि सूक्ष्म रूपमय और सूक्ष्मशक्तियों से युक्त संसार को रचा। उस परमात्मा ने जगत् में समस्त धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि व्यवहारों की सिद्धि के लिए अथवा जगत् की सिद्धि अर्थात् जगत् के समस्त रूपों के ज्ञान के लिए अग्नि, वायु ओर रवि से अर्थात् उन के माध्यम से ऋग्=ज्ञान, यजुः=कर्म, साम=उपासना रूप त्रिविध ज्ञान वाले नित्य वेदों को दुहकर प्रकट किया। स ष्टि उत्पन्न करते हुए उस परमात्मा ने समय और समयविभागों-निमेष, काष्ठा, कला, दिन-रात आदि को-नक्षत्रों-अश्विनी, भरणी आदि को तथा ग्रहों-सूर्य, चन्द्र आदि को नदियों, पर्वतों और ऊँचे-नीचे स्थानों को और तप, वाणी, प्रसन्नता तथा काम, क्रोध को, इन सब प्रजाओं और शेष सारी स ष्टि को रचा और फिर कर्मों के विवेचन के लिए धर्म-अधर्म का विभाग किया तथा इन प्रजाओं को सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि द्वन्द्वों=दो विरोधी गुणों या अवस्थाओं से जोड़ों से संयुक्त्त किया। उस परमात्मा ने स ष्टि के आरम्भ में जिस प्राणी को जिस कर्म में लगाया प्रत्येक स ष्टि-उत्पत्ति समय में वह फिर उत्पन्न होता हुआ अर्थात् जन्म धारण करता हुआ उसी कर्म को ही अपने आप प्राप्त करने लगा। हिंसा (सिंह, व्याघ्र आदि का) अहिंसा (म ग आदि का) दयायुक्त और कठोरतायुक्त धर्म तथा अधर्म असत्य और सत्य जिस प्राणी का जो कर्म स ष्टि के प्रारम्भ में उस परमात्मा ने धारण कराना था उस को वही कर्म अपने आप ही प्राप्त हो गया। जैसे ऋतुएं ऋतु-परिवर्तन होने पर अपने आप ही अपने-अपने ऋतुचिह्नों -जैसे, वसन्त आने पर कुसुम-विकास, आम्रम जरी आदि को प्राप्त करती हैं

उसी प्रकार देहधारी प्राणी भी अपने-अपने कर्मों को प्राप्त करते हैं अर्थात् अपने-अपने कार्यों में संलग्न हो जाते हैं। तत्पश्चात् उस परमात्मा ने प्रजाओं अर्थात् समाज की विशेष व द्धि=शान्ति, सम द्धि एवं प्रगति के लिए मुख बाहु, जंघा और पैर के गुणों की तुलना के अनुसार क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ओर शूद्र वर्ण को निर्मित किया। अर्थात् चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का निर्माण किया।

स ष्टि प्रक्रिया के एक अन्य स्वरूप और क्रम का वर्णन करते हुए मनु पुनः लिखते हैं -

वह ब्रह्मा अपने शरीर के दो भाग करके आधे से पुरुष और आधे से स्त्री हो गया। फिर उस स्त्री में उस ब्रह्मा ने 'विराट्' नामक पुरुष को उत्पन्न किया। हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! उस विराट् नामक पुरुष ने तपस्या करके जिसको उत्पन्न किया उसे इस सब संसार के रचयिता मुझ मनु को समझो अर्थात् वह मैं मनु ही हूँ। प्रजाओं की स ष्टि करने की इच्छा वाले मैंने कठोर तपस्या करके पहले प्रजाओं के पतिरूप दश महर्षियों को उत्पन्न किया। वे दश प्रजापति ऋषि हैं-मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भ गु और नारद। इन दश मनुओं ने अत्यधिक तेजस्वी अन्य सात मनुओं को उत्पन्न किया और देवताओं देवगणों तथा महातेजस्वी महर्षियों को भी उत्पन्न किया। और फिर यक्ष, राक्षस, पिशाचों को गन्धर्व, अप्सराओं और असुरों को और नाग, सर्प, गरुड़ों को, पितरों के प थक्-प थक् गणों को, और बिजली, गिरने वाली बिजलियों, बादलों को, सीधे इन्द्रधनुषों, टेढ़े इन्द्रधनुषों को, उल्काओं, उत्पात की आवाजों, पुच्छल तारों और छोटे-बड़े तारों को, किन्नरों, वानरों, मछलियों को, विविध प्रकार के पक्षियों को, ग्राम्यपशुओं, वन्य पशुओं, मनुष्यों को दोनों ओर दांत वाले हिंसक पशुओं को, छोटे कीड़ों, बड़े कीड़ों, उड़ने वाले कीड़ों, जूं, मक्खी, खटमलों और सब डंसने वाले मच्छरों को विविध प्रकार के स्थावरों को उत्पन्न किया।

इस स्थावर और जंगम जगत का वर्गीकरण करते हुए मनुस्म तिकार ने लिखा है कि ग्राम्यपशु गौ आदि अहिंसक व त्ति वाले वन्यपशु हिरण आदि और दोनों ओर दांत वाले हिंसक व त्ति वाले पशु सिंह, व्याघ्र आदि तथा राक्षस पिशाच तथा मनुष्य ये सब 'जरायुज' अर्थात् झिल्ली से पैदा होने वाले हैं। पक्षी, सापं, मगरमच्छ तथा कछुए ओर अन्य जो इस प्रकार के भूमि पर रहने वाले और जल में रहने वाले जीव हैं, वे सब 'अण्डज' अर्थात् अण्डे से उत्पन्न होने वाले हैं। डंक से काटने वाले डांस और मच्छर आदि जूँ, मक्खियां, खटमल, जो और भी कोई इस प्रकार के जीव हैं, जो ऊष्मा अर्थात् सीलन और गर्मी से पैदा होते हैं। वे सब 'स्वेदज' अर्थात् पसीने या सीलन से उत्पन्न होने वाले कहाते हैं। बीज और शाखा से उत्पन्न होने वाले सब स्थावर व क्ष आदि 'उद्भिज्ज'-भूमि को फाड़कर उगने वाले कहाते हैं। उनमें-फल आने पर पककर सूख जाने वाले और जिन पर बहुत फूल-फल लगते हैं। वे औषधियाँ कही जाती हैं। जिन पर बिना फूल आये ही फल लगते हैं, वे 'वनस्पतियां' कहलाती हैं। यथा-पीपल, गूलर आदि और फूल लगकर फल लगने वाले दोनों से युक्त होने के कारण वे उद्भिज्ज स्थावर जीव 'व क्ष' कहलाते हैं। अनेक प्रकार के जड़ से गुच्छे के रूप में बनने वाले 'झाड़' आदि एक जड़ से अनेक भागों में फूटने वाले 'ईख' आदि उसी प्रकार घास की सब जातियां, बीज और शाखा से उत्पन्न होने वाले उगकर फैलने वाली 'दूब' आदि और उगकर किसी का सहारा लेकर चढ़ने वाली बेलें ये स्थावर भी 'उद्भिज्ज' कहलाते हैं।

पूर्वजन्मों के बुरे कर्मफलों के कारण बहुत प्रकार के अज्ञान आदि तमोगुण से घिरे हुए या भरपूर ये स्थावर जीव सुख और दुःख के भावों से संयुक्त हुए आन्तरिक चेतना वाले होते हैं। अर्थात् इनके भीतर चेतना तो होती है, किन्तु अत्यधिक तमोगुण के कारण चेतना और भावों का प्रकटीकरण नहीं हो पाता।

स ष्टि वर्णन के उपरान्त मनु स्म तिकार ने प्रलय कार्य का संकेत करते हुए लिखा है-वह परमात्मा जागता है अर्थात् स ष्ट्युत्पत्ति के लिए प्रव त्त होता है तब समस्त संसार चेष्टायुक्त होता है, और जब यह शान्त आत्मा वाला सभी कार्यों से शान्त होकर सोता है अर्थात् स ष्टि-उत्पत्ति, स्थिति के कार्य से निव त्त हो जाता है तब यह समस्त संसार प्रलय को प्राप्त हो जाता है। स ष्टि-कर्म से निव त्त हुए उस परमात्मा के सोने पर कर्मों - श्वास-प्रश्वास, चलना-सोना आदि कर्मों में लगे रहने का स्वभाव है जिनका, ऐसे देहधारी जीव भी अपने-अपने कर्मों से निव त्त हो जाते हैं और 'महत्' तत्व सब कार्य-व्यापारों से विरत होने की अवस्था को या अपने कारण में लीन होने की अवस्था को प्राप्त करता है। उस सर्वव्यापक परमात्मा के आश्रय में जब एक साथ ही सब प्राणी चेष्टाहीन होकर लीन हो जाते हैं तब यह सब प्राणियों का आश्रय स्थान परमात्मा स ष्टि-संचालन के कार्यों से निव त्त हुआ-हुआ सुखपूर्वक सोता है। इस प्रकार वह अविनाशी परमात्मा जागने और सोने की अवस्थाओं के द्वारा इस समस्त जड़-चेतन जगत् को क्रमशः प्रलयकाल तक निरन्तर जिलाता है और फिर मारता है अर्थात् कारण में लीन करता है।

२. काल परिमाण

मनुस्म तिकार ने स ष्टि प्रक्रिया का वर्णन करते हुए लिखा है कि स ष्टि उत्पन्न करते हुए उस परमात्मा ने समय और उसके विभाग जैसे - निमेष, काष्ठा, कला, दिन-रात आदि को उत्पन्न किया। मनुस्म तिकार ने इस काल विभाग के सूक्ष्म अवयव से लेकर बड़े से बड़े भाग तक के परिमाण का उल्लेख मनुस्म ति में किया है जो इस प्रकार है - दश और आठ मिलाकर अर्थात् अठारह निमेषों की एक काष्ठा होती है। उन तीस काष्ठाओं की एक कला होती है, तीस कलाओं का मुहूर्त होता है, और उतने ही अर्थात् ३० मुहूर्तों के एक दिन-रात होते हैं। एक बार पलक झपकने के समय को निमेष कहते हैं।

विद्वज्जन पद्य में निर्दिष्ट प्राचीन काल परिमाण की तुलना आधुनिक काल परिमाण से इस प्रकार करते हैं - आधुनिक काल-विभाग के अनुसार इस समय को निम्न प्रकार बांटा जा सकता है - ०.१७७७७ सैकिण्ड का निमेष, ३.२ सैकेण्ड की १ काष्ठा, १ मिनट ३६ सैकिण्ड की १ कला, ४८ मिनट का १ मुहुर्त्त और २४ घण्टे के एक दिन-रात होते हैं।

सूर्य मनुष्यों के और देवों के दिन-रातों का विभाग करता है, उनमें प्राणियों के सोने के लिए 'रात' है और कामों के करने के लिए 'दिन' होता है। पितरों के लिए मनुष्यों का एक मास रात-दिन के समान है, अर्थात् मनुष्यों के ३० दिन-रात का एक मास पितरों के एक दिन-रात होते हैं उनमें दो पक्षों का विभाग किया जाता है। पितरों के काम करने के लिए 'कृष्णपक्ष' उनके दिन के समान है और 'शुक्लपक्ष' सोने के लिए उनकी रात है। मनुष्यों का एक वर्ष एक दैवी 'दिन-रात' होते हैं उन दैवी 'दिन-रात' का फिर विभाग है-उसमें सूर्य की भूमध्य रेखा से उत्तर की ओर स्थिति अर्थात् 'उत्तरायण' दैवी दिन कहलाता है, और सूर्य की दक्षिण की ओर स्थिति अर्थात् 'दक्षिणायन' दैवी रात है।

सूर्य के उत्तर तथा दक्षिण अयन छह-छह मास के होते हैं। उत्तरायण में सूर्य की स्थिति भूमध्य रेखा के उत्तर में होती है। यह स्थिति मकर रेखा से उत्तर कर्क रेखा की ओर होती है। सूर्य के इस स्थिति काल में माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ ये छह मास तथा शिशिर वसन्त और ग्रीष्म ऋतुयें होती हैं। दक्षिणायन में सूर्य की स्थिति भूमध्य रेखा के दक्षिण में होती है। यह स्थिति कर्क रेखा से दक्षिण मकर रेखा की ओर की है। इस काल में श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, आग्रहायण और पौष मास तथा वर्षा, शरद् और हेमन्त ऋतुयें होती हैं। उत्तरायण का आरम्भ मकर संक्रान्ति से तथा दक्षिणायन का आरम्भ कर्क सक्रान्ति से माना जाता है।

ब्राह्म अर्थात् परमात्मा के दिन-रात तथा एक-एक युगों का जो कालपरिमाण है वह क्रमानुसार इस प्रकार है। उन दैवी चार हजार दिव्य वर्षों का एक 'सतयुग' कहा है। उतने ही सौ दिव्य वर्ष की अर्थात् ४०० दिव्य वर्ष की 'सन्ध्या' होती है और उतने ही वर्षों का अर्थात् ४०० दिव्य वर्षों का 'सध्यांश' का समय होता है।

चार युगों का परिमाण - किसी भी युग के पूर्वसन्धिकाल को 'संध्या' और उत्तरसन्धिकाल को 'संध्यांश' कहाजाता है। सतयुग का कालपरिमाण - ४०००+४०० (संध्यावर्ष) + ४०० (संध्यांशवर्ष) = ४८०० दिव्यवर्ष बनता है। इसे मानुषवर्षों में बदलने के लिए ३६० से गुणा करना पड़ेगा इस प्रकार ४८०० + ३६० = १७२८००० मानुष वर्षों का एक सतयुग होता है और शेष अन्य तीन-त्रेता, द्वापर, कलियुगों में 'संध्या' नामक कालों में तथा 'संध्यांश' नामक कालों में क्रमशः एक-एक हजार ओर एक-एक सौ घटा देने से उनका अपना-अपना कालपरिमाण निकलआता है। ४८०० दिव्यवर्षों का सतयुग होता है, उसकी संख्या में से एक सहस्त्र और संध्या ४०० वर्ष व संध्यांश ४०० वर्ष में से एक-एक सौ घटाने से ३००० दिव्यवर्ष + ३०० संध्यावर्ष + ३०० संध्यांशवर्ष = ३६०० दिव्यवर्षों का त्रेतायुग होता है इसी प्रकार - २००० + २०० + २०० = २४०० दिव्यवर्षों का द्वापर और १००० + १०० + १०० = १२०० दिव्यवर्षों का कलियुग होता है।

जो यह पूर्व में चारों युगों को कालपरिमाण के रूप में गिनाया है यह बारह हजार दिव्य वर्षों का काल देवताओं का एक 'युग' कहा जाता है। देवों का एक युग मनुष्यों की एक चतुयुर्गी के परिमाण वाला होता है। एक चतुर्युगी १२ हजार दिव्य वर्षों के परिमाण वाली होती है। १२ हजार दिव्य वर्षों के काल परिमाण में ४३,२०,००० मानुष वर्ष होते हैं। बारह हजार दिव्य वर्षों का एक 'देवयुग' कहा है उससे इकहत्तर गुना समय अर्थात् १२००० × ७१ = ८,५२,००० दिव्यवर्षों का अथवा ८,५२,००० दिव्यवर्ष × ३६० = ३०,६७,२०,००० मानुषवर्षों का एक 'मन्वन्तर' का कालपरिमाण माना गया है। वह सबसे महान् परमात्मा असंख्य 'मन्वन्तरों' को स ष्टि-उत्पत्ति और प्रलय को खेलता हुआ-सा बार-बार करता रहता है। देवयुगों को हजार से गुणा करने पर जो कालपरिणाम निकलता है, वह परमात्मा का एक 'दिन' और उतने ही दिव्यवर्षों की उसकी एक 'रात' समझनी चाहिये। १२००० × १००० = १,२०,००,००० दिव्यवर्षों का ब्रह्म का एक दिन हुआ। यह १,२०,००,००० × ३६० = ४,३२,००,००,००० मानुषवर्षों का कालपरिमाण बनता है। यह परमात्मा की जाग्रत् अवस्था का दिन है, यह स ष्टि और उसकी स्थिति का काल है। इतना ही काल सुषुप्ति अवस्था का रात्रि-काल है। यही प्रलयावस्था कहाती है। जो लोग उस एक हजार दिव्य युगों के परमात्मा के पवित्र दिन को और उतने ही युगों की परमात्मा की रात्रि को समझते हैं वे ही वास्तव में दिन-रात = स ष्टि-उत्पत्ति और प्रलय काल के वेत्ता लोग हैं।

३. श्रुतिप्रशंसा

मनुस्म तिकार ने उस काल में अपनी प्रजाजनों के विधि विधान के रूप में इस स्म ति का निर्माण करते हुए इस बात का पूरा ध्यान रखा कि स्म ति के कारण श्रुति का किसी भी प्रकार से अवमान न हो जाये। इसीलिए उन्होंने अपने शास्त्र के आरम्भ में बहुत प्रकार से श्रुति की प्रशंसा की है। वे लिखते हैं - वेद को श्रुति समझना चाहिए और धर्मशास्त्र को स्म ति समझना चाहिए। ये श्रुति और स्म ति शास्त्र सब स्थितियों और सब बातों में कुतर्क न करने योग्य हैं अर्थात् इनमें प्रतिपादित बातों का कुतर्क का सहारा लेकर खण्डन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उन दोनों प्रकार के शास्त्रों से धर्म उत्पन्न हुआ है।

अर्थ और काम में अनासक्त लोगों के लिए धर्म के उपदेश का विधान है और धर्म को जानने की इच्छा रखने वालों के लिए श्रुति अर्थात् वेद ही परम प्रमाण है। जो किसी का कोई धर्म मनु ने कहा है वह सब वेद में कहा हुआ है क्योंकि वह वेद सब प्रकार के ज्ञान से युक्त है। जो कोई मनुष्य धर्म के मूल वेद और वेदानुकूल स्म ति ग्रन्थों का तर्कशास्त्र के आश्रय

से अपमान करे उसका श्रेष्ठ लोग बहिष्कार कर दें, क्योंकि जो वेद की निन्दा करता है वह नास्तिक है।

विद्वान् मनुष्य इस सब को ज्ञान रूपी नेत्र से भली प्रकार देखकर और वेद के प्रमाण से कर्तव्य का निश्चय करके अपने धर्म अर्थात् कर्तव्य में स्थिर रहे। क्योंकि मनुष्य वेदोक्त धर्म और जो वेद से अविरुद्ध स्म त्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता है, वह इस लोक में कीर्ति और मरके परलोक में सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है। जहाँ कहीं श्रुति=वेद में दो प थक् आदेश विहित हों, ऐसे स्थलों पर वे दोनों की विधान धर्म माने हैं मनीषी विद्वानों ने उन दोनों को ही श्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए में यज्ञ करने के लिए तीन समयों का विकल्प है - (१) सूर्योदय के समय में (२) सूर्य उदय न हो उस समय में (३) जब न तारे दीखते हों और न सूर्य निकला हो उस समय में यज्ञ करना चाहिए। इन तीन विधानों में परस्पर विरोध न मान कर जिस समय सुविधा हो उसी समय यज्ञ कर लेना चाहिए।

४. धर्म

संपूर्ण वेद, वेद के जानने वालों की स्म ति ओर उनका शील, सज्जनों का आचार और अपने मन की प्रसन्नता ये धर्म के मूल हैं। वेद, सत्पुरुषों का आचरण और अपने आत्मा के ज्ञान से अविरुद्ध प्रियाचरण ये चार धर्म के स्पष्ट लक्षण कहे हैं। "श्रुति - वेद, स्म ति - वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्म त्यादि शास्त्र, सत्पुरुषों का अचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म और अपने आत्मा में प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है जैसा कि सत्य भाषण, ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्माधर्म का निश्चय होता है। जो पक्षपातरहित न्याय सत्य का ग्रहण असत्य का सर्वथा परित्याग रूप आचार है, उसी का नाम धर्म और इसके विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी को अधर्म कहते हैं।

५. ब्रह्मावर्त/आर्यावर्त

देव अर्थात् दिव्यगुण और दिव्य आचरण वाले विद्वानों के निवास से युक्त सरस्वती और द षद्वती नदी-प्रदेशों के जो बीच का स्थान है उस दिव्यगुण एवं आचरण वाले विद्वानों द्वारा बसाये और निवास से सुशोभित देश को 'ब्रह्मावर्त' कहा जाता है। उस ब्रह्मावर्त्त देश में वर्णों और आश्रमों का जो परम्परागत अर्थात् वेदों के प्रारम्भ से लेकर उत्तरोत्तर क्रम से पालित जो आचार है वह सदाचार कहलाता है। कुरुक्षेत्र, मत्स्य, प चाल और शूरसेन इनको मिलाकर बना ब्रह्मावर्त्त से मिला हुआ 'ब्रह्मर्षि देश' है। इसी ब्रह्मावर्त्त देश में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों=विद्वानों के सान्निध्य से प थिवी पर रहने वाले सभी मनुष्य अपने-अपने आचरण अर्थात् कर्त्तव्यों की शिक्षा ग्रहण करें।

उत्तर में हिमालय पर्वत और दक्षिण में विन्ध्याचल के मध्यवर्ती विनशेन प्रदेशन=सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से लेकर जो पूर्वदिशा का देश है और प्रयागप्रदेश से पश्चिम में जो देश है और प्रयागप्रदेश से पश्चिम में जो देश है, वह 'मध्यदेश' कहा जाता है। जो पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्रपर्यन्त विद्यमान उत्तर में हिमालय और दक्षिण में स्थित विन्ध्याचल का मध्यवर्ती देश है, उसे विद्वान् आर्यावर्त्त कहते हैं और जिस देश में स्वाभाविक रूप से कृष्णम ग विचरण करता है वह यज्ञों से सम्बद्ध=पवित्र, श्रेष्ठ अथवा श्रेष्ठ कर्मों वाले व्यक्तियों से युक्त देश है, ऐसा समझना।

६. शिष्य/ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य

मनुस्म तिकार ने मनुस्म ति के द्वितीय अध्याय में उपनीत ब्रह्मचारी शिष्य के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं ब्रह्मचारी को वेद पढ़ने के आरम्भ ओर समाप्ति पर सदैव गुरु के दोनों

चरणों को छूकर दोनों हाथ जोड़कर अभिवादन करने के बाद पढ़ना चाहिये। गुरु के चरणों का स्पर्श हाथों को अदल-बदल करके करना चाहिए। बायें हाथ से बायां चरण ओर दायें हाथ से दायाँ पैर का स्पर्श करना चाहिये।

शिष्य सदैव वेद पढ़ने के आरम्भ और अन्त में 'ओ३म्' का उच्चारण करे। आरम्भ में ओंकार का उच्चारण न करने से पढ़ा हुआ बिखर जाता है अर्थात् भलीभांति ग्रहण नहीं हो पाता और बाद में 'ओ३म्' का उच्चारण न करने से पढ़ा हुआ स्थिर नहीं रहता।

ब्रह्मचारी पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय (इन दश इन्द्रियों के समूह को) वश में करके और मन को रोक कर तथा युक्ताहार विहार रूप योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे। प्रातःकालीन सन्ध्या के समय सूर्योदय तक गायत्री का जप करता हुआ बैठा रहे। सायंकालीन सन्ध्या में तारे निकलने तक (गायत्री जपता हुआ) बैठा रहे। प्रातःकालीन संध्या में बैठकर जप करके रात्रिकालीन मानसिक मलिनता या दोषों को दूर करता है और सायंकालीन संध्या करके दिन में स चित मानसिक मलिनता या दोषों को नष्ट करता है। अभिप्राय यह है कि दोनों समय संध्या करने से पूर्ववेला में आये दोषों पर चिन्तन-मनन और पश्चात्ताप करके ब्रह्मचारी उन्हें आगे न करने के लिए संकल्प करता है तथा गायत्री-जप से अपने संस्कारों को शुद्ध पवित्र बनाता है।

अरण्य में जाकर जल के समीप इन्द्रियों को रोककर एकाग्रचित्त से नित्य चर्या का अनुष्ठान करता हुआ गायत्री जप करे। वेद के पठन-पाठन में और नित्यकर्म में आने वाले गायत्री जप या संन्ध्योपासना में तथा यज्ञ करने में अनध्याय का विचार या आग्रह नहीं होता अर्थात् इन्हें प्रत्येक स्थिति में करना चाहिए, इनके साथ अनध्याय का विचार लागू नहीं होता।। नित्यकर्म में अनध्याय नहीं होता क्योंकि उसे ब्रह्मयज्ञ माना गया है। अनध्याय में किए गए अग्निहोत्र को पुण्यरूप कहा गया है।

यज्ञोपवीत संस्कार में दीक्षित द्विज अग्निहोत्र करना, भिक्षाव त्ति, भूमि में शयन, गुरु की सेवा, समावर्तन संस्कार पर्यन्त करता रहे। उपनयन संस्कार होने पर ही इस ब्रह्मचारी के लिए व्रतों के आदेश का पालन करना और विधि के अनुसार क्रमशः वेदज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक है। इस ब्रह्मचारी के जो-जो चर्म जो यज्ञोपवीत और जो मेखला, जो दण्ड तथा जो वस्त्र विहित किये हैं वह सब भी इसके व्रतों के अन्तर्गत ही हैं।

गुरु के समीप अर्थात् गुरुकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी अपने विद्यारूप तप की व द्धि के लिये इन्द्रियों के समूह को वश में करके इन आगे वर्णित नियमों का पालन करे।

ब्रह्मचारी नित्य स्नान करके शुद्ध होकर ऋषियों तथा पितरों की भोजन वस्त्रादि से सन्तुष्टि, परमात्मा की उपासना तथा अग्निहोत्र किया करे।

ब्रह्मचारी गंध, मदकारक मदिरा आदि पदार्थ और मांस, माला, रस और स्त्री का संग, सब प्रकार की खटाई तथा प्राणियों की हिंसा छोड़ देवे। अंगों का मर्दन और उबटन, आंखों में अ जन, जूते और छत्र का धारण, काम, क्रोध, लोभ और नाच, गाना बजाना छोड़ देवे। द्यूत, झगड़ा, निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों का दर्शन, दूसरे की हानि आदि कुकर्मों को सदा छोड़ देवे। सर्वत्र एकाकी सोवे, वीर्यस्खलित कभी न करे, काम से वीर्यस्खलित कर दे तो जानो कि अपने ब्रह्मचर्यव्रत का नाश कर दिया। ब्रह्मचारी द्विज अनजाने में स्वप्न में वीर्यस्खलित होने पर स्नान करके सूर्य की पूजा करके "पुनर्मामैत्विन्द्रियम्" इस ऋचा को तीन बार जपे।

पानी का घड़ा, फूल, गोबर, मिट्टी कुशाओं की जितनी आवश्यकता हो उतनी लाकर रखें और भिक्षा भी प्रतिदिन मांगे।

ब्रह्मचारी अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में सावधान रहने वालों के और वेदाध्ययन और

प चमहायज्ञों से जो हीन नहीं अर्थात् जो प्रतिदिन इनका पालन करते हैं ऐसे श्रेष्ठ व्यक्तियों के घरों से प्रयत्न पूर्वक प्रतिदिन भिक्षा ग्रहण करे। ब्रह्मचारी गुरु के परिवार तथा मित्रों में भी भिक्षा न मांगे, अन्य घरों से यदि भिक्षा न मिले तो पूर्व-पूर्व घरों को छोड़ते हुए भिक्षा प्राप्त कर ले अर्थात् पहले मित्रों, परिचितों या घनिष्ठों के घरों से भिक्षा मांगे, वहां न मिले तो सम्बन्धियों में, वहां भी न मिले तो गुरु के परिवार से भिक्षा मांग सकता है। पूर्व कहे हुए घरों के अभाव में सारे ही गांव में भिक्षा मांग ले किन्तु अपनी वाणी को प्रयत्नपूर्वक नियन्त्रण में रखता हुआ पापी व्यक्तियों को छोड़ देवे अर्थात् पापी लोगों के सामने किसी भी अवस्था में भिक्षा-याचना के लिए मुँह न खोले। दूरस्थान अर्थात् जंगल आदि से समिधाएं लाकर उन्हें खुले स्थान में रख दें और फिर उनसे आलस्यरहित होकर सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय अग्निहोत्र करे। स्वस्थ होते हुए भी यदि ब्रह्मचारी सात दिन तक बिना भिक्षा मांगे तथा अग्निहोत्र बिना किये रहे तो वह 'अवकीर्णी' नामक प्रायश्चित व्रत करे। ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षा मांगकर ही खाये, किसी एक ही मनुष्य का अन्न खाने वाला न बने। ब्रह्मचारी द्वारा भिक्षा से व त्ति चलाने को उपवास के समान ही माना है।

ब्रह्मचारी देवताओं के उद्देश्यों से किए हुए यज्ञ आदि कर्म में व्रत के समान पित कर्म=श्राद्ध आदि में ऋषि के समान आदरपूर्वक बुलाये जाने पर भोजन कर ले, इस प्रकार से इसका व्रत भंग नहीं होता। किन्तु विद्वानों में यह कर्म अर्थात् यज्ञ और श्राद्ध में भोजन करना ब्राह्मण के लिए ही विहित किया है, यह कर्म क्षत्रिय और वैश्य के लिए विहित नहीं किया है।

गुरु के द्वारा प्रेरणा करने पर अथवा बिना प्रेरणा किये भी ब्रह्मचारी प्रतिदिन पढ़ने में और गुरु के हितकारक कार्यों में यत्न करे। ब्रह्मचारी शरीर, वाणी, ज्ञानेन्द्रियों और मन को भी वश में करके अर्थात् सावधान होकर गुरु के सामने देखता हुआ हाथ जोड़कर खड़ा होवे। सदा उद्ध तपाणि रहे अर्थात् ओढ़ने के वस्त्र से दायां हाथ बाहर रखे, ओढ़ने के वस्त्र को इस प्रकार ओढ़े कि वह दायें हाथ के नीचे से होता हुआ बायें कंधे पर जाकर टिके, जिसे दायां कन्धा और हाथ वस्त्र से बाहर निकला रह जाये। गुरु के द्वारा 'बैठो' ऐसा कहने पर गुरु के सामने उनकी ओर मुख करके बैठे। गुरु के समीप रहते हुए सदा अन्न=भोज्यपदार्थ, वस्त्र और वेशभूषा गुरु से सामान्य रखे और गुरु से पहले जागे तथा बाद में सोये।

प्रतिश्रवण अर्थात् गुरु की बात या आज्ञा का उत्तर देना या स्वीकृति देना और संभाषा-बातचीत, ये लेटे हुए न करे, न बैठे-बैठे, न कुछ खाते हुए और न मुँह फेरकर खड़े हुए बातें करे। बैठे हुए गुरु से खड़ा होकर, खड़े हुए गुरु के सामने जाकर, अपनी ओर आते हुए गुरु से उसकी ओर शीघ्र आगे बढ़कर दौड़ते हुए के पीछे दौड़कर प्रतिश्रवण और बातचीत करे। गुरु यदि मुँह फेरे हों तो उनके सामने होकर और दूर खड़े हों तो पास जाकर, लेटे हों और समीप ही खड़े हों तो विनम्र होकर प्रतिश्रवण और बातचीत करे।

गुरु के समीप रहते हुए इस ब्रह्मचारी का बिस्तर और आसन सदा ही गुरु के आसन से नीचा या साधारण रहना चाहिए और गुरु की आखों के सामने कभी मनमाने आसन में न बैठें। पीछे से भी अपने गुरु का केवल नाम न ले। अर्थात् जब भी गुरु के नाम का उच्चारण करना पड़े तो 'आचार्य', 'गुरु' आदि सम्मानबोधक शब्दों के साथ करना चाहिए, अकेला नाम नही और गुरु की चाल, वाणी तथा चेष्टाओं की नकल न उतारे। जहां गुरु की बुराई अथवा निन्दा हो रही हो, अपने कान बन्द कर लेने चाहिए अर्थात् उसे नहीं सुनना चाहिए अथवा उस जगह से कहीं अन्यत्र चला जाना चाहिए।

शिष्य अपने गुरु को दूर से नमस्कार न करे, न क्रोध में, जब अपनी स्त्री के पास बैठे हों न उस स्थिति में जाकर अभिवादन करे और यदि शिष्य सवारी पर बैठा हो तो उतरकर अपने गुरु को अभिवादन करे। शिष्य की ओर से गुरु की ओर आने वाली वायु में और उसके विपरीत

अर्थात् गुरु की ओर से शिष्य की ओर आने वाली वायु की दिशा में गुरु के साथ न बैठे तथा जहां गुरु को अच्छी प्रकार से सुनाई न पड़े ऐसे स्थान में कुछ बात न करे।

सामान्यतः ब्रह्मचारी के लिए गुरु के साथ एक आसन पर बैठना निषिद्ध है। किन्तु कुछ स्थितियों में वह बैठ सकता है। मनुस्म ति में लिखा है कि ब्रह्मचारी बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊंटगाड़ी पर और महलों अथवा घरों में बिछाये जाने वाले बिछौने और चटाईयों पर तथा पत्थर, तख्ता, नौका पर गुरु के साथ बैठ जाये। गुरु के भी गुरु यदि समीप आ जायें तो उनसे अपने गुरु के समान ही आचरण करे और अपने माता-पिता आदि गुरुजनों के आने पर गुरु से आदेश पाये बिना अभिवादन करने न जाये।

विद्या पढ़ाने वाले सभी गुरुओं में अपने वंश वाले सभी बड़ों में, और अधर्म से हटाकर धर्म का उपदेश करने वालों में भी सदैव यही (ऊपर वर्णित) बर्ताव करे। बड़े लोगों में और श्रेष्ठ गुरुपुत्रों में तथा गुरु के रिश्तेदारों में भी सदैव गुरु के समान ही बर्ताव करे। गुरु का पुत्र चाहे छोटा हो अथवा समान आयु वाला हो, अथवा यज्ञकर्म में दीक्षित होकर शिष्य बन चुका हो, वह पढ़ाता हुआ गुरु के समान सम्मान का अधिकारी है। गुरुपुत्र के अंगों को दबाना, नहलाना, झूठा भोजन करना और पैरों को धोना, ये कार्य न करे।

गुरु के अपने वर्ण की पत्नियां गुरु के समान ही पूजनीय हैं और भिन्न वर्ण की गुरुपत्नियों का तो केवल उठने और नमस्कार करने से ही आदर करना चाहिये। गुरुपत्नी के उबटन लगाना, स्नान कराना और शरीर दबाना, बालों को संवारना ये कार्य नहीं करने चाहिए। जिसके बीस वर्ष पूर्ण हो चुके हों ऐसे गुण और दोषों को समझने में समर्थ युवक शिष्य को युवती गुरुपत्नी का चरणों का स्पर्श करके अभिवादन नहीं करना चाहिए। इस संसार में यह स्वाभाविक ही है कि स्त्री-पुरुषों का परस्पर के संसर्ग से दूषण हो जाता है=दोष लग जाता है, इस कारण बुद्धिमान् व्यक्ति स्त्रियों के साथ व्यवहारों में कभी असावधानी नहीं करते अर्थात् ऐसा कोई बर्ताव नहीं करते जिससे सदाचार के मार्ग से भटक जाने की आशंका हो। क्योंकि संसार में स्त्रियां काम और क्रोध के वशीभूत होने वाले अविद्वान् को अथवा विद्वान् व्यक्ति को भी उसके मार्ग से उखाड़ने में अर्थात् उद्देश्य से पथभ्रष्ट करने में पूर्णतः समर्थ हैं। अच्छा तो यही है कि युवक शिष्य युवती गुरुपत्नियों को 'यह मैं अमुक नाम वाला हूँ' ऐसा कहते हुए पूर्णविधि के अनुसार भूमि पर झुककर ही अभिवादन करे।

ब्रह्मचारी चाहे मुंडी हो, चाहे जटी हो या शिखी, इस ब्रह्मचारी को ग्राम में रहते सूर्य न तो अस्त हो न कभी उदय हो। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी को रात्रिवास गुरुकुल में ही करना है। अतः भिक्षा आदि कार्यों के लिए उसे ग्राम आदि में सूर्योदय के बाद जाना चाहिए और सूर्यास्त पूर्व लौट आना चाहिए। यदि गुरुकुल में भी उसे इच्छानुसार सोते हुए सूर्य का उदय हो जाये अथवा अनजाने में या प्रमाद के कारण सूर्य अस्त हो जाये तो दिन भर गायत्री का जप करते हुए उपवास करे=खाना न खाये। जो प्रमाद से सूर्य के अस्त हो जाने पर और सोते-सोते सूर्य उदय होने पर प्रायश्चित नहीं करता है वह बड़े अपराध का भागी बनता है। अभिप्राय यह है कि ऐसी अवस्था में उसे बड़ा दोषी माना जायेगा, क्योंकि संध्याकालों में ब्रह्मचारी के लिये परमावश्यक कर्म संध्योपासना है और इस कर्म में प्रमाद करने से ब्रह्मचारी के पापों में फंसने का भय रहता है। ब्रह्मचारी प्रतिदिन प्रातः और सायं दोनों संध्याकालों में शुद्ध स्थान में आचमन करके प्रयत्नपूर्वक एकाग्र होकर यथाविधि परमेश्वर का जप करते हुए उपासना करे।

उत्तमगति चाहने वाले शिष्य को चाहिए कि वह अब्राह्मण गुरु के यहाँ और वेदों में अपारंगत=सांङ्गोपाङ्ग वेदों के अध्यापन में असमर्थ ब्राह्मण गुरु के समीप भी आजीवन निवास न करे, क्योंकि इनके पास शिष्य की प्रगति रुक जाती है। सांगोपांग वेदों के ज्ञाता विद्वान्

के पास रहकर ही उन्नति की उत्तम गति तक पहुंच सकता है। यदि ब्रह्मचारी शिष्य गुरुकुल में जीवन-पर्यन्त निवास करना चाहे तो शरीर छूटने पर्यन्त अपने गुरु की प्रयत्नपूर्वक सेवा करे। जो शरीर के त्याग होने तक अर्थात् म त्युपर्यन्त गुरु की सेवा करता है, वह विद्वान् व्यक्ति परमात्मा के नित्यपद मोक्ष को शीघ्र प्राप्त करता है।

विधि का ज्ञाता शिष्य स्नातक बनने अर्थात् समावर्तन कराने की इच्छा होने पर गुरु से आज्ञा प्राप्त करके शक्ति के अनुसार गुरु के लिए दक्षिणा प्रदान करे। किन्तु समावर्तन से पहले गुरु को दक्षिणा या भेंट रूप में कुछ नहीं देना चाहिए। भूमि, सोना, गाय, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, अन्न, वस्त्र अथवा शाक गुरु के लिए प्रीतिपूर्वक दक्षिणा में दे। आचार्य की यदि म त्यु हो जाये तो गुरुपुत्र में अथवा गुरुपत्नी में अथवा गुरु के वंश वाले योग्य व्यक्ति में गुरु के समान व्यवहार करे। इन गुरुपुत्र, गुरुपत्नी और सपिण्ड व्यक्ति के विद्यमान न होने पर शिष्य स्नान, आसन तथा अन्य नित्यकर्म करता हुआ अग्निहोत्र करते हुए अपने शरीर को साधे अर्थात् तपस्या से संयमित करे।

७. संस्कार

संस्कार शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु से घञ् प्रत्यय ओर सुट् का का आगम करने पर सिद्ध होता है। इसका अर्थ होता है-सजाना, सँवारना, संस्कार पद का निर्वचन करते हुए विद्वज्जन लिखते हैं :-

'संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते'

अर्थात् संस्कार पहले से विद्यमान दुर्गुणों को हटाकर सद्गुणों को आधान कर देने का नाम है।

मनु ने मनुष्य जीवन में १६ संस्कारों को करने का विधान बतलाया है। मनुष्य के लिए इन संस्कारों को आवश्यक रूप से करने का विधान करते हुए मनुस्म तिकार ने लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपनी सन्तानों के निषेकादि संस्कार अवश्य करें। ये संस्कार इस जन्म तथा परजन्म को पवित्र करने वाले होते हैं।

(१) गर्भाधान संस्कार

ग हस्थ होने पर सन्तान प्राप्ति हेतु बल निषेचन द्वारा गर्भ स्थापना करना गर्भाधान कहलाता है। यह संस्कार यज्ञपूर्वक सम्पन्न होता है।

(२) पुंसवन संस्कार

स्त्री में गर्भाधान के चिह्न की स्थिति लक्षित होने पर दो-तीन मास में पुत्रोत्पत्ति के उद्देश्य से यज्ञपूर्वक किया जाने वाला संस्कार है।

(३) सीमन्तोन्नयन संस्कार

गर्भ के चतुर्थ मास में गर्भ स्थिरता, पुष्टि एवं स्त्री के आरोग्य हेतु किया जाने वाला संस्कार। उक्त तीनों संस्कार शिशु जन्म से पूर्व गर्भकाल में सम्पन्न होते हैं।

(४) जातकर्म संस्कार

शिशु जन्म के समय नाभि काटने से पहले बालक का जातकर्म संस्कार किया जाता है। इस संस्कार में बालक को मन्त्रोचारणपूर्वक सोने की शलाका से असमान मात्रा में घी, शहद चटाया जाता है तथा बालक की जिह्वा पर ॐ लिखा जाता है।

(५) नामकरण संस्कार

जन्म से दसवें दिन या बारहवें दिन अथवा किसी शुभमुर्हूत में या शुभ गुण वाले नक्षत्र में इस संस्कार द्वारा बालक का नाम रखा जाता है।

(६) निष्क्रमण

यह जन्म के चौथे मास में किया जाता है। 'मनुस्म ति' में कहा गया है कि शिशु का चौथे महीने में निष्क्रमण संस्कार करना चाहिए अर्थात् पिता के द्वारा शिशु को चौथे महीने में घर से बाहर ले जाकर पूर्णिमा को चन्द्रदर्शन और शुभदिन में सूर्य का दर्शन कराना चाहिए।

(७) अन्नप्राशन

अन्नप्राशन के लिए छठा महीना उपयुक्त माना गया है। मनु का कथन है कि शिशु के छठे महीने में अन्नप्राशन संस्कार कराना चाहिए। तथा अपने कुल की परम्परा के अनुसार शिव, विष्णु आदि देवताओं का दर्शन पूजन आदि शुभकर्म करते हुए शिशु का विभिन्न कलाओं व शिल्पों के प्रतीकों से परिचय कराना चाहिए।

(८) मुण्डन संस्कार या चूडाकर्म संस्कार

चूडा का अर्थ है 'बाल गुच्छ', जो मुण्डित सिर पर रखा जाता है, इसको शिखा भी कहते हैं। अतः चूडाकर्म या चूडाकरण वह कृत्य (संस्कार) है जिसमें जन्म के उपरान्त पहली बार सिर पर एक बाल-गुच्छ अर्थात् शिखा रखी जाती है। इसको मुण्डन संस्कार भी कहते हैं। मनु के अनुसार पहले या तीसरे वर्ष में मुण्डन संस्कार करना चाहिए।

(६) उपनयन संस्कार

उपनयन=उप-समीप, नयन-लेजाना अर्थात् समीप ले जाना- यह 'उपनयन' का अर्थ है। 'उपनयन' शब्द को दो प्रकार से समझा जाता है। प्रथम - शिशु को आचार्य (गुरु) के समीप ले जाना तथा द्वितीय - वह संस्कार जिसके द्वारा शिशु को आचार्य (गुरु) के समीप ले जाया जाता है।

'उपनयन' संस्कार सब संस्कारों में महत्त्वपूर्ण है। यह संस्कार विद्या सीखने वाले शिष्य को गायत्री मन्त्र सिखाकर किया जाता है। इसके लिए उचित अवस्था या काल निर्धारित है। ब्राह्मण कुमार का उपनयन गर्भाधान या जन्म से लेकर छठे वर्ष में, क्षत्रिय का आठवें तथा वैश्य का ११वें वर्ष में किया जाता है। 'उपनयन' संस्कार में 'यज्ञोपवीत' की मूल भूमिका है। इसलिए इसे 'यज्ञोपवीत' संस्कार भी कहा जाता है।

(१०) वेदारम्भ संसकार

(वेदों का आरम्भ) वेदाध्ययन प्रारम्भ करने के पूर्व जो धार्मिक विधि की जाती है उसको 'वेदारम्भ संस्कार' कहते हैं। इस संस्कार के द्वारा शिष्य चारों वेदों के सांगोपांग अध्ययन के लिए नियम धारण करता है। प्रातः काल शुभमुहूर्त में आचार्य (गुरु) यज्ञादि का सम्पादन कर शिष्य को वैदिक मन्त्रों का अध्ययन आरम्भ कराता है। यह संस्कार उपनयन संस्कार वाले दिन ही या उससे एक वर्ष के अन्दर गुरुकुल में सम्पन्न होता है। वेदों के अध्ययन का आरम्भ गायत्री मन्त्र से किया जाता है।

(११) केशान्त संस्कार

इस संस्कार में सिर के तथा शरीर के अन्य भाग जैसे दाढ़ी आदि के केश बनाए जाते हैं। गुरु के समीप रहते हुए जब बालक विधिवत् शिक्षा ग्रहण करते हुए युवा अवस्था में प्रवेश करता है गुरु उसका केशान्त संस्कार करता है।

(१२) समावर्तन संस्कार

(उपाधि ग्रहण करना) वेद-वेदांगों एवं सम्पूर्ण धर्म शास्त्रों का अध्ययन कर लेने एवं शिक्षा समाप्ति के पश्चात् बालक को स्नातक की उपाधि प्रदान की जाती है। इस संस्कार में गुरु शिष्य को सम्पूर्ण सामग्रियों सहित स्नान करवाता है।

समावर्तन संस्कार के साथ मनुष्य के जीवन का पहला चरण अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम समाप्त होता

है तथा ग हस्थ आश्रम आरम्भ होता है।

(१३) विवाह संस्कार

मनुस्म तिकार ने त तीय अध्याय में लिखा है कि तीन वेदों का, दो वेदों का अथवा एक वेद का अध्ययन पूर्ण करके अविलुप्त ब्रह्मचर्य स्नातक का विवाह संस्कार किया जाना चाहिए।

(१४) वानप्रस्थ संस्कार

केश पक जाने तथा पुत्र का पुत्र उत्पन्न हो जाने पर वानप्रस्थ संस्कार का विधान है।

(१५) संन्यास संस्कार

आयु के अन्तिम भाग में संन्यासी बनने के लिए यह संस्कार किया जाता है।

(१६) अन्त्येष्टि संस्कार

जीवन यात्रा पूरी होने पर किया जाने वाला अन्त्येष्टि संस्कार होता है।

मनुष्य जीवन में उपर्युक्त इन १६ संस्कारों का अत्यन्त महत्त्व है। मनु ने इन संस्कारों को आवश्यक रूप में करने का निर्देश दिया है। इन संस्कारों के करने से मनुष्य के पूर्व जन्म के बुरे कर्मों एवं संस्कारों का निवारण होता है। अतः ये संस्कार अवश्य किए जाने चाहिए।